

April 2023

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अप्रैल २०२३



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अप्रैल २०२३

विषय-सूची

योग-समन्वय में समता	श्रीअरविन्द ३
सुरेन्द्रनाथ जौहर के साथ पत्र-व्यवहार	श्रीमाँ ८
नियति	श्रीअरविन्द १७
हमारे शिक्षा-केन्द्र का उद्देश्य	'श्रीमातृवाणी' से १८
भौतिक चेतना	श्रीअरविन्द १९
११ जनवरी १९५६ के वार्तालाप का कुछ अंश	'श्रीमातृवाणी' से २१
५ सितम्बर १९१४ की प्रार्थना	'श्रीमातृवाणी' से २५
श्रीअरविन्द के उत्तर (८८)	२६

‘योग-समन्वय’ में समता

(गतांक से आगे)

श्रीअरविन्द ने कहा था कि सर्वांगीण योग की नींव हैं शान्ति तथा समता। बुलेटिन के इस तथा अन्य आगामी अंकों में हम योग-समन्वय के चार अध्याय देंगे जिनमें श्रीअरविन्द समता के बारे में बतलाते तथा उनके योग के आध्यात्मिक अभ्यास में उसकी प्रक्रिया के महत्त्व की व्याख्या करते हैं—सं.

समता की प्राप्ति तथा अहंकार का नाश

यह समता सुदीर्घ अग्नि-परीक्षा तथा धीर आत्म-साधना के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती। जब तक कामना प्रबल होती है तब तक निष्क्रियता को तथा कामना की थकावट की घड़ियों को छोड़ कर समता ज़रा भी प्राप्त नहीं हो सकती, और तब यह सम्भवतः, सच्ची शान्ति तथा तात्त्विक आध्यात्मिक एकता होने की अपेक्षा कहीं अधिक निष्क्रिय उदासीनता, या कामना की ठिठक ही होगी। इसके अतिरिक्त, इस साधना के या आत्मिक समता के इस विकास के कुछ-एक आवश्यक काल एवं क्रम होते हैं। साधारणतया हमें सहिष्णुता की अवस्था से प्रारम्भ करना होता है; क्योंकि हमें सब स्पर्शों का सामना करना, उन्हें झेलना तथा आत्मसात् करना सीखना है। अपनी नस-नस को हमें यह सिखाना होगा कि जो चीज़ दुःख देती तथा घृणा पैदा करती है उससे यह झिझके नहीं और जो वस्तु प्रिय लगती तथा आकृष्ट करती है उसकी ओर उत्सुकतापूर्वक लपके नहीं, बल्कि प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करे, उसका सामना करे, उसे सहन करे तथा वश में करे। सभी स्पर्शों को सहने के लिए हमें सशक्त होना चाहिये, केवल उन्हीं को नहीं जो हमारे लिए विशिष्ट और वैयक्तिक हों, वरन् उन्हें भी जो हमारे चारों ओर के तथा ऊपर या नीचे के लोकों एवं उनके निवासियों के साथ हमारी सहानुभूति या संघर्ष से हमें प्राप्त हों। अपने ऊपर होने वाली मनुष्यों, चीज़ों और शक्तियों की क्रिया को तथा अपने साथ उनके संघर्षण को, देवताओं के दबाव और असुरों के आक्रमणों को हम शान्त भाव से सहन करेंगे। अपनी आत्मा की अक्षुब्ध गहराइयों में हम उस सबका सामना करेंगे और उसे अपने अन्दर पूर्ण रूप से निमज्जित कर लेंगे जो कुछ आत्मा के अनन्त अनुभव के रास्ते हमारे सामने सम्भवतः आ सकता है। यह समता की तैयारी का उदासीन काल है, यद्यपि यह इसकी एक सर्वथा प्रारम्भिक अवस्था है तथापि यह वीरतापूर्ण काल है। परन्तु शरीर और हृदय एवं मन की इस दृढ़ सहिष्णुता को भागवत इच्छाशक्ति के प्रति आध्यात्मिक अधीनता के सुपुष्ट भाव का सहारा देना होगा; इस जीते-जागते पुतले को, अपनी पूर्णता को गढ़ने वाले भागवत हस्त

के स्पर्श के प्रति, दुःख में भी, नत होना होगा—कठोर अथवा साहसपूर्ण सहमतिपूर्वक ही नहीं, बल्कि ज्ञानपूर्वक तथा उत्सर्ग के भाव में। ईश्वर-प्रेमी की ज्ञानपूर्ण, भक्तिपूर्ण अथवा यहाँ तक कि करुणापूर्ण उदासीनता भी सम्भव है और इस प्रकार की उदासीनता उस निरी बर्बर और स्व-निर्भर सहिष्णुता से अधिक अच्छी होती है जो ईश्वर के इस आधार को अत्यन्त कठोर बना सकती है; क्योंकि इस प्रकार की उदासीनता एक ऐसी शक्ति तैयार करती है जो ज्ञान और प्रेम को धारण कर सकती है; इसकी स्थिरता एक ऐसी गभीरतः प्रेरित शान्ति होती है जो सहज ही आनन्द में परिणत हो जाती है। उत्सर्ग और उदासीनता के इस काल का लाभ यह होता है कि हमें समस्त आघातों और सम्पर्कों का सामना करने वाला आत्मबल प्राप्त हो जाता है।

इसके बाद उस उच्चासीन तटस्थता एवं अलगाव का काल आता है जिसमें आत्मा हर्ष और विषाद से मुक्त हो जाती है और सुख की लालसा के पाश से तथा दुःख-दर्द के शूलों के अँधेरे बन्धन से छूट जाती है। सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियों पर, अपने और दूसरों के सभी विचारों, भावों, संवेदनों और कार्यों पर आत्मा ऊपर से अपनी दृष्टि डालती है, पर वह स्वयं अछूती एवं निर्विकार रहती है और इन चीज़ों से डिगती नहीं। यह समता की तैयारी का चिन्तनात्मक काल है, एक विशाल तथा अतिमहान् गति है। परन्तु इस उदासीनता को कर्म तथा अनुभव से निष्क्रिय पराङ्मुखता के रूप में स्थायी नहीं हो जाना चाहिये; यह व्याकुलता, विरक्ति तथा अरुचि से उत्पन्न घृणा-रूप नहीं होनी चाहिये, न ही यह निराश या असन्तुष्ट कामना की ठिठक या उस पराजित एवं असन्तुष्ट अहं की उद्विग्नता होनी चाहिये जो अपने रागयुक्त लक्ष्यों से बलात् पीछे हटा दिया गया है। पीछे हटने की ये चेष्टाएँ अपक्व आत्मा में अवश्यमेव प्रकट होती हैं और आतुर तथा कामना-प्रचालित प्राणिक प्रकृति को निरुत्साहित करके ये एक प्रकार से प्रगति में सहायक भी हो सकती हैं, किन्तु ये वह पूर्णता नहीं हैं जिसके लिए हम पुरुषार्थ कर रहे हैं। जिस उदासीनता या तटस्थता की प्राप्ति के लिए हमें प्रयत्न करना होगा वह है वस्तुओं के स्पर्शों से परे ऊर्ध्व-अवस्थित^१ आत्मा की प्रशान्त उच्चता; यह उन स्पर्शों को देखती तथा स्वीकार या अस्वीकार करती है, पर अस्वीकृति की अवस्था में चलायमान नहीं होती और स्वीकृति से वशीकृत नहीं हो जाती। यह अपने-आपको उस प्रशान्त आत्मा अथवा आत्म-तत्त्व के निकट और उससे सम्बद्ध तथा एकमय अनुभव करने लगती है जो स्वयम्भू है और प्रकृति के व्यापारों से पृथक् है, पर जो विश्व की गति से अतीत, शान्त एवं अचल सद्वस्तु का एक अंश रह कर या उसमें निमज्जित होकर उन व्यापारों को आश्रय देता तथा सम्भव बनाता है। उच्च अतिक्रमण के इस काल के फलस्वरूप एक ऐसी आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है जो जागतिक गति की मृदुल हिलोरों अथवा तूफानी तरंगों और लहरों से आन्दोलित और उद्वेलित नहीं होती।

यदि हम आन्तरिक परिवर्तन की इन दो अवस्थाओं में से किसी में भी बद्ध या अवरुद्ध हुए बिना इन्हें पार कर सकें, तो हम उस महत्तर दिव्य समता में प्रवेश पा लेंगे जो आध्यात्मिक उत्साह तथा शान्त हर्षावेश को धारण करने में समर्थ है और जो पूर्णताप्राप्त आत्मा की एक

^१ या उदासीन।

आनन्दमयी, सब कुछ समझने तथा सब कुछ अधिकृत करने वाली समता है,—उसकी सत्ता की एक ऐसी प्रगाढ़ तथा सम विशालता एवं परिपूर्णता है जो सभी वस्तुओं का आलिंगन करती है। यह सर्वोच्च अवस्था है और इसे प्राप्त करने का पथ भगवान् तथा विश्वजननी के प्रति पूर्ण आत्मदान के हर्ष में से होकर जाता है। कारण, शक्ति तब एक आनन्दपूर्ण प्रभुत्व से सुशोभित होती है, शान्ति सघन होकर आनन्द में परिणत हो जाती है, तब दिव्य स्थिरता की सम्पदा को उठा कर दिव्य गति की सम्पदा का आधार बना दिया जाता है। लेकिन अगर इस महत्तर पूर्णता को प्राप्त करना है तो आत्मा की उस तटस्थ उदासीनता को, जो पदार्थों, व्यक्तियों, गतियों और शक्तियों के प्रवाह पर ऊपर से दृष्टिपात करती है, परिवर्तित होना होगा और दृढ़ तथा शान्त नमन और सबल एवं गम्भीर समर्पण के एक नये भाव में परिणत होना होगा। यह नमन तब 'हरि-इच्छा' का नहीं, बल्कि सहर्ष स्वीकृति का भाव होगा; क्योंकि तब दुःख झेलने अथवा भार या कष्ट सहने का भाव ज़रा भी नहीं होगा; प्रेम और आनन्द तथा आत्मदान का हर्ष ही इसका उज्ज्वल ताना-बाना होगा। यह समर्पण केवल उस दिव्य संकल्प के प्रति ही नहीं होगा जिसे हम अनुभव और स्वीकार एवं शिरोधार्य करते हैं, बल्कि इस संकल्प में निहित उस दिव्य प्रज्ञा के प्रति भी होगा जिसे हम अंगीकार करते हैं और इसके अन्तर्निहित उस दिव्य प्रेम के प्रति भी जिसे हम अनुभव करते और सोल्लास अनुमति प्रदान करते हैं—यह उस आत्मा अथवा आत्मसत्ता की प्रज्ञा एवं प्रेम के प्रति होगा जो हमारी और सबकी परम आत्मा एवं आत्मसत्ता है और जिसके साथ हम मंगलमय एवं परिपूर्ण एकत्व उपलब्ध कर सकते हैं। ज्ञानी की चिन्तनात्मक समता का अन्तिम मन्त्र है, एकाकिनी शक्ति, शान्ति एवं स्थिरता, परन्तु आत्मा अपने सर्वांग अनुभव में अपने-आपको इस स्वरचित स्थिति से मुक्त कर लेती है और सनातन के अनादि और अनन्त आनन्द के परम सर्वसमालिगी उल्लास के सागर में निमज्जन करती है। इस प्रकार, अन्त में हम सब स्पर्शों को आनन्दपूर्ण समता से ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं, क्योंकि उनमें हम उस अक्षय प्रेम तथा आनन्द का संस्पर्श अनुभव करते हैं जो वस्तुओं के अन्तस्तल में सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। विराट् एवं सम हर्षावेश के इस शिखर पर पहुँचने का परम फल यह होता है कि अध्यात्म-सुख तथा असीम आनन्द के प्रथम द्वार खुल जाते हैं और एक ऐसे दिव्य हर्ष की प्राप्ति होती है जो मन और बुद्धि से परे है।

* * *

इससे पहले कि कामना के नाश तथा आत्मिक समता की प्राप्ति का यह प्रयत्न अपनी चरम पराकाष्ठा एवं सफलता को प्राप्त हो, आध्यात्मिक क्रिया के उस क्रम को पूर्ण कर लेना आवश्यक है जो अहंभाव को जड़ से नष्ट कर डालता है। किन्तु कर्मों के लिए कर्म के अहंकार का त्याग इस परिवर्तन का एक परमावश्यक अंग है। कारण, यद्यपि हमने फलों तथा फलों की कामना का यज्ञ के अधीश्वर के प्रति उत्सर्ग करके राजसिक इच्छा के अहंभाव से नाता तोड़ लिया है फिर भी कर्तृत्व का अहंकार हमने शायद अभी तक बचा रखा है। अभी तक हम इस भाव के वशीभूत हैं कि स्वयं हम ही कर्म के कर्ता हैं, हम ही इसके उद्गम और

हम ही अनुमति देने वाले हैं। अभी तक हमारा “मैं” ही चुनता और निर्णय करता है, हमारा “मैं” ही उत्तरदायित्व लेता और निन्दा-प्रशंसा अनुभव करता है। इस विभाजक अहंबुद्धि का पूरी तरह से उच्छेद हमारे योग का प्रधान लक्ष्य है। यदि किसी प्रकार के अहं को कुछ समय के लिए हमारे अन्दर बचा रहना ही है तो वह इसका एक रूपमात्र है जो अपने को रूप ही समझता है और हमारे अन्दर चेतना के सच्चे केन्द्र की अभिव्यक्ति या स्थापना होने के साथ ही नष्ट हो जाने के लिए उद्यत रहता है। वह सच्चा केन्द्र एकमेवाद्वितीय चेतना का ज्योतिर्मय रूपायण तथा ‘एकं सत्’ का शुद्ध वाहन एवं यन्त्र होता है। वैश्व शक्ति की वैयक्तिक अभिव्यक्ति एवं क्रिया का आधार होता हुआ वह क्रमशः अपने पीछे हमारे सच्चे अन्तःपुरुष एवं केन्द्रीय नित्य पुरुष को, अर्थात् ‘परम’ की एक शाश्वत सत्ता, और परात्पर शक्ति की एक अंशभूत शक्ति को प्रकाशित करता है।^१

यहाँ, इस गति में भी, जिसके द्वारा आत्मा अहं के प्रच्छन्न आवरण धीरे-धीरे उतार फेंकती है, सुस्पष्ट क्रमों में से गुजरते हुए उन्नति होती है। कारण, केवल कर्मों के फल पर ही ईश्वर का अधिकार हो ऐसी बात नहीं, बल्कि हमारे कर्म भी निश्चित रूप से उसी के होने चाहियें; जैसे वह हमारे फलों का स्वामी है, वैसे ही वह हमारे कर्म का भी सच्चा स्वामी है। इस बात को केवल चिन्तनात्मक मन से समझ लेना ही हमारे लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि यह हमारी समस्त चेतना तथा इच्छाशक्ति के प्रति पूर्णतः सत्य बन जानी चाहिये। साधक के लिए यह केवल सोचना और जान लेना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि उसे कार्य करते समय, इसके आरम्भ में और इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया में, प्रत्यक्ष रूप से तथा गहराई के साथ यह देखना और अनुभव भी करना होगा कि उसके कर्म उसके अपने बिलकुल नहीं हैं, बल्कि वे उसके द्वारा परम सत्ता से प्रवाहित हो रहे हैं। उसको उस शक्ति, उपस्थिति एवं संकल्प-शक्ति से सदा सचेतन रहना होगा जो उसकी व्यक्तिगत प्रकृति के द्वारा कार्य करती है। परन्तु ऐसी वृत्ति अपनाते में भय यह है कि वह अपने छिपे हुए या उदात्तीकृत “मैं” या किसी निम्नतर शक्ति को भ्रान्तिवश ईश्वर समझ कर इसकी माँगों को सर्वोच्च आदेशों का स्थान दे देगा। वह इस निम्नतर प्रकृति के सामान्य दाँव में फँस जायेगा और उच्चतर शक्ति के प्रति अपने कल्पित समर्पण को अपनी इच्छा की, यहाँ तक कि अपनी कामनाओं एवं आवेशों की परिवर्द्धित एवं असंयत तृप्ति का बहाना बना लेगा। अतः, एक महान् सद्हृदयता की आवश्यकता है और इसे केवल अपने सचेतन मन में ही स्थापित करना काफ़ी नहीं है, बल्कि इससे कहीं अधिक अपने उस प्रच्छन्न भाग में भी स्थापित करना आवश्यक है जो गुप्त चेष्टाओं से भरा पड़ा है। कारण वहाँ, विशेषकर हमारी प्रच्छन्न प्राणिक प्रकृति में, एक ऐसा मायावी और बहुरूपिया उपस्थित है जिसका सुधार करना अत्यन्त कठिन है। बहरहाल, कामना के उन्मूलन में तथा सभी क्रियाओं एवं सभी घटनाओं के प्रति दृढ़ आत्मिक समता में बहुत अधिक उन्नति कर लेने के बाद ही साधक अपने कर्मों का भार पूर्ण रूप से भगवान् को सौंप सकता है। उसे प्रतिक्षण अहंकार के छलों तथा अन्धकार

^१ अंशः सनातनः ; परा प्रकृतिर्जीवभूता।—गीता १५-७; ७-५

की उन भ्रामक शक्तियों के दाँवों पर सजग दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ना होगा जो सदा ही अपने को प्रकाश तथा सत्य के अनन्य स्रोत के रूप में प्रदर्शित करती हैं और जिज्ञासु की आत्मा को बन्दी बनाने के लिए दिव्य रूपों का स्वाँग रचती हैं।

इसके पश्चात् उसे तुरन्त ही अपने को साक्षी की स्थिति के प्रति अर्पित करने का अगला क्रम उठाना होगा। प्रकृति से पृथक्, निर्वैयक्तिक तथा वीतराग होकर, उसे अपने अन्दर काम करती हुई कर्त्री प्रकृति-शक्ति का निरीक्षण करना तथा उसकी क्रिया को समझना होगा। इस पार्थक्य के द्वारा उसे प्रकृति की वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा को पहचानना सीखना होगा, उषा और निशा एवं दिव्यता और अदिव्यता के प्रकृतिकृत सम्मिश्रण को अलग-अलग करके देखना और प्रकृति की उन बली शक्तियों एवं सत्ताओं को जानना होगा जो अज्ञानी मानव प्राणी का अपने कार्य के लिए उपयोग करती हैं। गीता कहती है कि विश्व-शक्ति (Nature) हमारे अन्दर प्रकृति के त्रिविध गुण—प्रकाश तथा सत् के गुण, आवेश एवं कामना के गुण और अन्धता तथा जड़ता के गुण—के द्वारा कार्य करती है। जिज्ञासु को अपनी प्रकृति के इस राज्य में होने वाली सब कार्रवाई के तटस्थ तथा विवेचक साक्षी के रूप में इन गुणों की पृथक् तथा सम्मिलित क्रिया में भेद करना सीखना होगा। वैश्व शक्तियों की सूक्ष्म अगोचर प्रणालियों तथा छद्मवेशों के समस्त गोरखधन्धे में उसे अपने अन्दर इनकी क्रियाओं का अनुसन्धान करना होगा और इस गड़बड़झाले की प्रत्येक पेचीदगी को समझना होगा। ज्यों-ज्यों वह इस ज्ञान में अग्रसर होगा त्यों-त्यों वह अनुमन्ता बनने में समर्थ होता जायेगा और आगे जाकर प्रकृति का मूढ़ यन्त्र नहीं रहेगा। सर्वप्रथम उसे प्रकृति-शक्ति को इस बात के लिए प्रेरित करना होगा कि वह उसके करणों पर अपनी क्रिया करते हुए अपने दो निम्नतर गुणों के व्यापार को अभिभूत करके उन्हें प्रकाश एवं सत् के गुण के वशीभूत कर दे और उसके बाद, उसे इस सत्त्वगुण को भी इसके लिए प्रेरित करना होगा कि यह भी अपने-आप को अर्पित करे, ताकि एक उच्चतर दिव्य शक्ति तीनों को ही इनके दिव्य प्रतिफलों में, परम विश्रान्ति और शम, दिव्य ज्ञानदीप्ति और आनन्द तथा नित्य दिव्य बलक्रिया या तपस् में रूपान्तरित कर सके। इस साधना तथा परिवर्तन का प्रथम भाग हमारी मानसिक सत्ता की संकल्प-शक्ति के द्वारा सिद्धान्त-रूप में दृढ़तापूर्वक सम्पन्न हो सकता है; परन्तु इसकी पूर्ण सिद्धि तथा परिणामभूत रूपान्तर तो तभी सम्पन्न हो सकते हैं जब गभीरतर अन्तरात्मा प्रकृति पर अपने प्रभुत्व को अधिक दृढ़ करके प्रकृति के शासक के रूप में मनोमय पुरुष का स्थान ग्रहण कर ले। ऐसा हो जाने पर जिज्ञासु केवल अभीप्सा तथा भावना एवं प्रारम्भिक तथा वृद्धिशील आत्मोत्सर्ग के साथ ही नहीं, बल्कि अत्यन्त सबल रूप में यथार्थ एवं सक्रिय आत्मदान के साथ अपने कर्मों का परम इच्छाशक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण करने के लिए तैयार हो जायेगा। उसके अपूर्ण मानव-बुद्धिवाले मन के स्थान पर क्रमशः एक आध्यात्मिक और ज्ञानदीप्त मन प्रतिष्ठित होता जायेगा और यह भी अन्त में अतिमानसिक सत्य-ज्योति में प्रवेश कर सकेगा। तब वह अस्तव्यस्त एवं अपूर्ण क्रिया करने वाले तीन गुणों से सम्पन्न अपनी अज्ञानमयी प्रकृति के द्वारा नहीं, बल्कि आध्यात्मिक शान्ति, ज्योति, शक्ति एवं

आनन्द की दिव्यतर प्रकृति के द्वारा कर्म करेगा। वह अपने कर्म और भी अज्ञतर भावुक हृदय की प्रेरणा, प्राण-सत्ता की कामना, शरीर के आवेग एवं अन्ध प्रवृत्ति तथा अज्ञ मन एवं संकल्प के पारस्परिक मिश्रण के द्वारा नहीं करेगा, बल्कि पहले आध्यात्मीकृत सत्ता एवं प्रकृति के द्वारा और अन्त में अतिमानसिक सत्य-चेतना तथा उसकी परा प्रकृति की दिव्य शक्ति के द्वारा करेगा।

इस प्रकार वे अन्तिम पग उठाये जा सकते हैं जिनसे प्रकृति का परदा हट सकता है और जिज्ञासु समस्त सत्ता के स्वामी का साक्षात्कार कर सकता है और उसके सभी कर्म उस परम शक्ति के कर्म में निमज्जित हो सकते हैं जो सदा शुद्ध, सत्य, पूर्ण और आनन्दमय है। इस प्रकार वह अपने कर्मों और कर्मफलों को अतिमानसिक शक्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित करके केवल उस सनातन कर्ता के एक सचेतन यन्त्र के रूप में कार्य कर सकता है। तब वह अनुमति नहीं देगा, बल्कि भगवान् के आदेश को अपने करणों में ग्रहण करके और अतिमानसिक शक्ति के हाथों का यन्त्र बन कर उस आदेश का अनुसरण करेगा। तब वह कर्म नहीं करेगा, बल्कि अतिमानसिक की अनिद्रित शक्ति को अपने द्वारा कार्य करने देगा। तब वह यह नहीं चाहेगा कि उसकी मानसिक कल्पनाएँ चरितार्थ हों तथा उसकी भाविक कामनाएँ पूरी हों, बल्कि वह एक ऐसे सर्वशक्तिमान् संकल्प का अनुसरण करेगा और उसमें सहयोग देगा जो सर्वविद् ज्ञान है तथा गुह्य, चमत्कारक एवं अगाध प्रेम है और है सत्ता के नित्य आनन्द का विशाल अतल सागर।

CWSA खण्ड २३, पृ. २२६-३१

श्रीअरविन्द

सुरेन्द्रनाथ जौहर के साथ पत्र-व्यवहार

पंजाब के झेलम ज़िले में—जो अब पाकिस्तान में है—१३ अगस्त १९०३ को जन्मे सुरेन्द्रनाथ जौहर १९३९ की दिसम्बर, ३६ वर्ष की उम्र में, पहले-पहल श्रीमाँ से मिले। हालाँकि उन्होंने नयी दिल्ली में रहना जारी रखा, लेकिन वे नियमित रूप से आश्रम आया करते थे। उनके परिवार के कई सदस्य आश्रम में ही बस गये थे। १९५६ में, श्रीमाँ के आशीर्वाद के साथ सुरेन्द्रनाथ ने श्रीअरविन्द आश्रम की दिल्ली शाखा की तथा Mother's School की भी दिल्ली में स्थापना की। अपने जीवन के आखिरी तीस वर्ष उन्होंने दिल्ली आश्रम तथा विद्यालय को तन-मन-धन से समर्पित कर दिये, साथ ही हिमालय की गोद, नैनीताल में भी उन्होंने आश्रम के एक केन्द्र की स्थापना की। २ सितम्बर १९८६—तिरासी वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हुआ।

माँ के साथ सुरेन्द्रनाथ का पत्र-व्यवहार १९५१ से १९७२ के दौरान हुआ।

सुरेन्द्रनाथ,

यह कभी मत भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं और वे ही तुम्हारी

सहायता कर रहे और तुम्हें रास्ता दिखला रहे हैं। वे ऐसे साथी हैं जो कभी निराश नहीं करते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम सान्त्वना देता और बल प्रदान करता है। जितना अधिक तुम एकाकी अनुभव करते हो उतना अधिक तुम 'उनकी प्रदीप्त उपस्थिति' को अनुभव करने के लिए तैयार होते हो। श्रद्धा रखो और 'वे' तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।

२७ सितम्बर १९५१

(साधक ने 'श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय यूनिवर्सिटी सेण्टर' जिसका उद्घाटन १९५२ में हुआ था, (जिसका नाम बाद में श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र में बदल दिया गया), के भविष्य के बारे में पूछा। उसके उत्तर में माँ ने निम्नलिखित पत्र भेजा:)

सुरेन्द्रनाथ,

मुझे पूरा विश्वास है, मैं बिलकुल आश्वस्त हूँ, मेरे मन में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि यह विश्वविद्यालय, जो यहाँ स्थापित किया जा रहा है, धरती पर सबसे बड़ा ज्ञानपीठ होगा।

इसमें पचास वर्ष लग सकते हैं, इसमें सौ वर्ष लग सकते हैं, और तुम्हें मेरे यहाँ रहने के बारे में सन्देह हो सकता है; मैं यहाँ होऊँ या न होऊँ, पर मेरा कार्य पूरा करने के लिए मेरे ये बच्चे यहाँ होंगे।

और जो आज इस दिव्य कार्य में सहयोग दे रहे हैं उन्हें ऐसी असाधारण उपलब्धि में भाग लेने का आनन्द और गर्व प्राप्त होगा।

मेरे आशीर्वादों के साथ।

२८ मई १९५३

दयामयी माँ,

दिल्ली आश्रम के कार्य के सञ्चालन के लिए कुछ नियमित अधिकारों का होना बहुत ज़रूरी हो गया है, बैंक का एक खाता खोलना और वहाँ के मामलों के लिए चिट्ठियों तथा दस्तावेज़ों पर दस्तख़त करना इत्यादि।

इनके बिना माँ, चीज़ें हमेशा बड़ी मुश्किल और अस्पष्ट ही रहती हैं। सारे कार्य के सञ्चालन के लिए इधर-उधर तरकीबें निकालनी पड़ती हैं। कभी-कभी मेरी अवस्था बड़ी अजीबोगरीब हो जाती है और बहुत परेशानी उठानी पड़ती है।

माँ, मैं आपके कृपालु निर्णय के लिए प्रार्थना करता हूँ।

दयापूर्ण कृपा तथा आशीर्वादों के लिए प्रार्थना करता हुआ।

आपका बालक।

सुरेन्द्रनाथ,

मुझे बस एक ही रास्ता सूझ रहा है; और वह यह है कि सारी चीज़ों की वित्तीय व्यवस्था

का कार्य तुम अपने हाथ में रखो। दिल्ली के बैंक में दो अलग-अलग खाते खोलने होंगे; एक आश्रम के लिए और दूसरा विद्यालय के लिए, और दोनों खातों की सारी कार्रवाई तुम्हीं करोगे। और स्वाभाविक है कि विद्यालय के खर्चों के बारे में तुम्हारी राय लेनी ज़रूरी होगी।
आशीर्वाद। २५ अगस्त १९६०

सुरेन्द्रनाथ जौहर को, नयी दिल्ली

सुरेन्द्रनाथ,

अब से तुम्हें यह अधिकार दिया जाता है कि श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा तथा 'मदर्स स्कूल' की सभी गतिविधियों का ज़िम्मा तुम उठाओगे; साथ ही, इस सम्बन्ध में तुम्हें बैंक का एक खाता खोलने और सभी चिट्ठियों और दस्तावेज़ों पर दस्तखत करने की ज़िम्मेदारी भी दी जाती है।

श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा तथा 'मदर्स स्कूल' के सभी कार्यों में मेरा प्रतिनिधित्व करने का अधिकार भी तुम्हें दिया जा रहा है और इन मामलों में मेरे साथ सीधा सम्पर्क करने की ज़िम्मेदारी भी तुम्हारी ही है।

आशीर्वाद।

४ सितम्बर १९६०

सुरेन्द्रनाथ,

अगर आश्रम, दिल्ली शाखा, को पॉण्डिचेरी आने वाले और यहाँ से जाने वाले अतिथियों को बीच में दिल्ली में ठहराना हो तो उन्हें कम-से-कम उचित होटल की व्यवस्था करनी होगी, यानी, आरामदायक आवास, साफ़-सफ़ाई, अच्छे स्वास्थ्यकर भोजन तथा उचित देखभाल का खयाल रखना होगा।

मैं तुम पर पूरा विश्वास करती हूँ कि तुम इन सभी आवश्यक माँगों को पूरा करोगे।

मैं तुम्हें अपना प्रेम और आशीर्वाद भेज रही हूँ।

४ सितम्बर १९६०

दयामयी माँ,

मैं आपसे कहना चाहता था कि आपके निर्देशों के अनुसार मैं गम्भीरता से दिल्ली आश्रम में उचित सुधार लाने का प्रयास कर रहा हूँ ताकि इस जगह को अधिक सुन्दर बनाया जा सके और अतिथियों को आवश्यक सुविधाएँ और आराम दिया जा सके। मैं निरन्तर इसी काम में जुटा हुआ हूँ।

टूटी-फूटी इमारतों को ठीक कर दिया गया है और चौके, खाने की जगहों तथा शौचालय और स्नानागारों के फ़र्श पूरी तरह से बदल दिये गये हैं।

टीन के सभी पुराने सायबानों को हटा कर कंक्रीट की छतें बना दी गयी हैं, दीवारों पर पलस्तर चढ़ा दिया गया है, फ़र्श सीमेण्ट का कर दिया गया है। इन सभी बदलावों ने सारी चीज़ में मानों नयी जान फूँक दी है।

रहने की इमारतों में भी कुछ रद्दो बदल कर दी गयी है ताकि रहने वालों के लिए ज़्यादा सुहूलियतें हो सकें। आश्रम के पूरे परिसर में पुताई और खिड़की-दरवाज़ों पर रँगाई करवा दी गयी है।

अब मुझे अच्छा फ़र्नीचर और चीनी-मिट्टी के तथा बाक़ी बर्तन आदि लेने हैं। कृपालु माँ, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब से यहाँ आये अतिथियों को कहीं अधिक अच्छी सुविधाएँ मिलेंगी और मैं निरन्तर सुधार में तन-मन से लगा रहूँगा।

ममतामयी माँ, कुछ ही महीनों में, इन सब चीज़ों में सात-आठ हज़ार रुपये खर्च हो गये हैं और शायद काम ख़तम होने तक और तीन-चार हज़ार रुपये लग जायें।

माँ, पानी की समस्या अभी तक गम्भीर बनी हुई है, जिसके बिना कई सुधार नहीं हो पाते और काम को ठीक तरीक़े और सुचारु रूप से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

आपकी कृपा पाने के लिए प्रार्थनारत, मैं हूँ हमेशा आपका बालक।

अब जब कभी अवसर आये मैं अतिथियों को तुम्हारे यहाँ दिल्ली भेजने में बहुत खुशी का अनुभव करूँगी, और मुझे विश्वास है कि अब वे वहाँ रह कर पूरी तरह सन्तुष्ट होंगे।

मेरे प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१ अप्रैल १९६१

कृपालु माँ,

‘ज’ करीब आठ महीने दिल्ली आश्रम से बाहर ‘ह’ के साथ रहा जिसे वह हमेशा भागवत सहायक के नाम से पुकारता है। वहाँ वह बहुत तनाव में था और एकदम से घिनौनी अवस्था में रहा। वह भयंकर रूप से बीमार पड़ गया और उसने १८ पाउण्ड वज़न खोया।

मुझे एक सपना आया और मैं पहली जनवरी १९६७ को जाकर उसे आश्रम में वापस ले आया। कितना खुश हुआ वह। उसने यह चीज़ चमत्कार और कृपा के रूप में ली। उसने कहा कि हमारे पास आने का उसका साहस नहीं हो रहा था क्योंकि वह सोच रहा था कि हमने उसे हमेशा के लिए छोड़ दिया और हम उसे वापस कभी स्वीकार न करेंगे।

माँ, वह राजनीति के पीछे पागल है, लेकिन वह इस बात को मानता नहीं है। वह “पूर्ण स्वराज का आन्दोलन” चला रहा है, उसके लिए जी-जान से मेहनत कर

रहा है, चन्दा जुटाने के लिए लोगों के सामने हाथ पसार रहा है, इत्यादि। अपने सभी जी-तोड़ प्रयासों के बावजूद, वे स्वयं अपने रोजमर्रा के खर्च का बोझ नहीं उठा पा रहे हैं। निस्सन्देह, 'ज' अब आपके बालक के रूप में यहाँ हमारे पास निःशुल्क रह रहा है। लेकिन कोई उसकी मदद कर रहा है और उसके निजी खर्च के लिए हर महीने उसे सौ रुपये दे रहा है।

आपकी दयालु कृपा के लिए प्रार्थना करते हुए,
आपका बालक।

मैं खुश हूँ कि तुम उस बिचारे को भोजन इत्यादि दे रहे हो—बहुत बार मैं उसकी दयनीय दशा पर दुःखी होती हूँ।

प्रेम और आशीर्वाद।

१८ मई १९६७

कृपालु माँ,

माँ, आप जानती ही हैं कि 'ज' "पूर्ण स्वराज का आन्दोलन" चला रहा है। वह हमें लगातार लिख रहा है, हम पर बार-बार ज़ोर डाल रहा है कि हम सभी उसकी सहायता करें और इस आन्दोलन में उसका साथ दें। उसका कहना है कि वह यह सब कुछ आपके निर्देशन तथा आदेश से कर रहा है और उसने हमें दिखलाया कि आपने उसे लिखा, "बढ़ते चलो।"

वह यह भी कहता है कि वह सारा कार्य "स्वामी" श्रीअरविन्द के आदेशानुसार कर रहा है जिन्होंने 'भारतीय एकता का आदर्श' (Ideal of Human Unity) पुस्तक के उपसंहार के अध्याय में कहा है कि जगत् को संकट से बचाने और उनकी मनोकामना सिद्ध करने के लिए हमें उनका कार्य आगे बढ़ाना चाहिये।

माँ, चूँकि 'ज' अब दिल्ली आश्रम छोड़ रहा है, वह अपना दृष्टिकोण आगन्तुकों तथा दूसरे लोगों पर थोपने के लिए हमेशा उत्सुक रहता है। उस हालत में हमें क्या स्थिति अपनानी चाहिये? हमारा मनोभाव कैसा होना चाहिये और हमें किस तरह क्रिया करनी तथा बर्ताव करना चाहिये?

आपकी दयापूर्ण कृपा के लिए प्रार्थनालीन।

आपका बालक।

हर एक अपना जीवन उस तरह चलाने के लिए स्वतन्त्र होता है जिसे वह सर्वश्रेष्ठ और सच्चा मानता है।

एकमात्र चीज़ जो हम कर सकते हैं वह है कि हम इस तथ्य पर ज़ोर दें कि आश्रम का राजनीति से कोई सरोकार नहीं, हमारा कोई राजनैतिक दृष्टिकोण नहीं है और यहाँ कोई

राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं होतीं—बस इतना ही।

१८ मई १९६७

दयालु माँ,

‘स’ के द्वारा लिखी पुस्तक ‘The Great Sense’ का हम हिन्दी में अनुवाद करना चाहते हैं और निःशुल्क वितरण के लिए उसे एक छोटी पुस्तिका के रूप में छपवाना भी चाहते हैं, लेकिन जो खरीदना चाहें उनके लिए हम कुछ मूल्य भी रख सकते हैं। माँ, कृपा कर मुझे बतलाइये कि आप इसकी अनुमति देना चाहेंगी? आपकी कृपा तथा आशीर्वाद पाने के लिए प्रार्थना करता हुआ, आपका प्रिय बालक।

बशर्ते कि अनुवाद अच्छा हो और मूल का अर्थ अक्षुण्ण बना रहे—तब ठीक है।

आशीर्वाद।

१४ दिसम्बर १९६९

हम (मानव) अपने अहंकार की सन्तुष्टि के लिए नहीं जी रहे; हम ‘भागवत संकल्प’ की सिद्धि के लिए जी रहे हैं। लेकिन ‘भागवत संकल्प’ को समझने-बूझने और जानने में समर्थ होने के लिए हमारे अन्दर कामनाएँ और पसन्दें नहीं होनी चाहियें। नहीं तो हम अपने सीमित विचारों और सिद्धान्तों को ‘भागवत संकल्प’ मानने की भूल कर बैठते हैं।

एक निरपेक्ष तथा समर्पित सच्चाई में ही, जो हमारे निर्धारित विचारों तथा पसन्दों से मुक्त हो, हम ‘भागवत संकल्प’ के लिए आवश्यक शक्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; और इसे हमें एक निर्भीक अनुशासन के द्वारा क्रिया में उतारना होगा।

३ अप्रैल १९७१

सुरेन्द्रनाथ को

मैं हमेशा तुम्हारे साथ होऊँगी।

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

२१ जुलाई १९७२

सभी देशों को सामूहिक प्रगति के लिए एक सामूहिक प्रयास में एकजुट होना चाहिये।

बिना तारीख का

जीवन एकदम सरल और आसान हो जाता अगर मनुष्य का मन उसमें इतनी निरर्थक जटिलताओं को न घुसने देता।

बिना तारीख का

जन्मदिन के सन्देश

शूरता के बिना मनुष्य 'देवत्व' में विकसित नहीं हो सकता; क्रियारत भागवत प्रकृति के सबसे पहले सिद्धान्तों में हैं ये—साहस, ऊर्जा तथा शक्ति। —श्रीअरविन्द

Bonne Fête!

शुभ जन्मदिन!

सुरेन्द्रनाथ को

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१३ अगस्त १९६३

शुभ जन्मदिन!

सुरेन्द्रनाथ को

मेरे आशीर्वादों के साथ कि यह वर्ष शान्त तथा प्रदीत हो, साथ में मेरा प्रेम भी है।

१३ अगस्त १९६४

शुभ जन्मदिन!

सुरेन्द्रनाथ को

प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

वह जो 'सत्य' की सेवा करने के लिए जीता है, बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता।

१३ अगस्त १९६६

एक 'परम दिव्य चेतना' विराजमान है।

हम भौतिक जीवन में उसी 'दिव्य चेतना' को अभिव्यक्त करना चाहते हैं।

सुरेन्द्रनाथ को शुभ जन्मदिन।

प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

१३ अगस्त १९६९

भगवान् की सेवा करने से बड़ा और कोई हर्ष नहीं हो सकता।

सुरेन्द्रनाथ को

प्रेम तथा आशीर्वादों के साथ।

१३ अगस्त १९७०

सभी पसन्दों के परे हम 'भगवान्' की सेवा में रहना चाहते हैं।

शुभ जन्म दिन!

सुरेन्द्रनाथ को

प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

१३ अगस्त १९७१

शुभ जन्म दिन!

सुरेन्द्रनाथ को

पथ को सरल बनाने के लिए प्रेम तथा आशीर्वाद।

१३ अगस्त १९७२

श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा को दिये गये सन्देश

*(निम्नांकित पहला सन्देश उद्घाटन पर दिया गया था।
एक के सिवाय बाक़ी वार्षिक जयन्ती पर दिये गये हैं।)*

श्रीअरविन्द आश्रम दिल्ली शाखा के उद्घाटन पर

वर दीजिये कि यह स्थान अपने नाम को सार्थक करे, श्रीअरविन्द की शिक्षा के सच्चे अर्थ को अभिव्यक्त करे और संसार को उनका सन्देश दे।

१२ फ़रवरी १९५६

कोई भी संस्था जीवित नहीं रह सकती जब तक कि वह प्रगतिशील न हो।

हमेशा भगवान् के अधिकाधिक निकट आना ही सच्ची प्रगति है।

१२ फ़रवरी १९५७

‘सत्य’ के प्रति अपने प्रयास में हमें वास्तविक रूप से सच्चा और निष्कपट होना सिखा।

२३ अप्रैल १९५७

सत्य किसी भी बाहरी रूप और आकार पर निर्भर नहीं करता और समस्त दुर्भावना या विरोध के बावजूद वह अभिव्यक्त होकर रहेगा।

आशीर्वाद।

१२ फ़रवरी १९६६

दयालु माँ,

इस सन्धि-स्थल पर मुझे आपकी कृपा की सज़त ज़रूरत है, हम सब, जो यहाँ काम करते हैं, उनके लिए एक शक्तिशाली प्रेरणादायक सन्देश देने की कृपा करें माँ।

अतः, एक बार फिर से मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, आपसे हाथ जोड़ कर भिक्षा माँगता हूँ कि हम सबको ऊपर उठाने के लिए कृपा करके आप अपनी ओर से हमें एक आदेश भेजें।

आपकी कृपा और आशीर्वादों के लिए प्रार्थना करता हुआ।

आपका बालक।

सफलता की अपेक्षा सत्य को पाने के लिए अधिक उत्सुक रहो।
आशीर्वाद।

१२ फ़रवरी १९६९

दिल्ली के 'मदर्स इंटरनैशनल स्कूल' के नाम सन्देश

(पहला उद्घाटन के अवसर पर दिया गया सन्देश है।
बाक़ी वार्षिक जयन्ती पर दिये गये सन्देश हैं।)

पृथ्वी पर एक नयी ज्योति प्रकट हुई है। आज जिस नये 'विद्यालय' का उद्घाटन हो रहा है वह उसका पथ-प्रदर्शन पाये।

आशीर्वाद।

२३ अप्रैल १९५६

'सत्य' के प्रति अपने प्रयास में हमें वास्तविक रूप से सच्चा और निष्कपट होना सिखा।
२३ अप्रैल १९५७

विगत कल की सिद्धियाँ आगामी कल की उपलब्धियों की ओर छल्लाँग लगाने के लिए कमानीदार तर्ज़ता हों।
२३ अप्रैल १९५८

आओ, हम अपने-आपको धरती पर अभिव्यक्त होते हुए नये जीवन के लिए तैयार करें।
२३ अप्रैल १९५९

सबसे अच्छे विद्यार्थी वे हैं जो जानना चाहते हैं, वे नहीं जो दिखावा करना चाहते हैं।
२३ अप्रैल १९६६

'दि मदर्स स्कूल' —सच्चाई।
२३ अप्रैल १९६७

सच्चाई का माप सफलता का माप है।
२३ अप्रैल १९६८

'भविष्य' सम्भावनाओं से भरा है।
अपने-आपको उसके लिए तैयार करो।
आशीर्वाद।

२३ अप्रैल १९६९

श्रीमाँ

नियति

इस जगत् में हर व्यक्ति अपनी नियति की लीक का अनुसरण करता है जो उसके अपने स्वभाव और कर्मों द्वारा निर्धारित होती है—अमुक जन्म में घटी घटनाओं का अर्थ और आवश्यकता क्या है यह कई जन्मों के अवलोकन के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। लेकिन यह अवलोकन उन लोगों द्वारा ही किया जा सकता है जो साधारण मन और भावनाओं के परे जाकर चीज़ों को समग्र रूप में देख सकें, यह जान सकें कि गलतियाँ, दुर्भाग्य और विपत्तियाँ भी यात्रा के सोपान हैं—इन्हें पार करते हुए और इनके पार जाते हुए आत्मा अनुभव सञ्चित करती जाती है जब तक कि यह उस संक्रमण के लिए तैयार नहीं हो जाती जो इसे इन चीज़ों के परे उच्चतर चेतना और उच्चतर जीवन की ओर न ले जाये। जब व्यक्ति परे जाने की इस सीमा-रेखा तक पहुँच जाता है तो उसे पुराने मत और भावनाओं को पीछे छोड़ देना होता है। तब वह उन लोगों को, जो अभी तक सामान्य दुनिया के सुख-दुःख से घिरे हैं, उनसे बँधे हैं, एक सहानुभूति की नज़र से देखता है और जहाँ सम्भव हो वहाँ आध्यात्मिक रूप से मदद भी कर देता है पर अब और अधिक उनसे आसक्त नहीं रहता। व्यक्ति तब सीखता है कि अपनी सभी ठोकरों और भरोसों के द्वारा वह उस वैश्व शक्ति की ओर ले जाया जा रहा है जो उन्हें देख रही है, सहारा दे रही है और उनके लिए जो सर्वोत्तम है वह कर रही है। लेकिन हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है, उच्चतर प्रकाश तक पहुँचना, भगवान् के साथ एक हो जाना, सिर्फ़ उन्हीं की ओर मुड़ना, चाहे अपने लिए हो चाहे औरों के लिए, एकमात्र उन्हीं पर भरोसा करना।

CWSA खण्ड २८, पृ. ५०९

हमारे शिक्षा-केन्द्र का उद्देश्य

हमारे शिक्षा-केन्द्र का असली उद्देश्य और लक्ष्य क्या है? क्या श्रीअरविन्द के ग्रन्थ पढ़ाना? केवल यही? सभी ग्रन्थ या उनमें से कुछ? या हमें विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना है कि वे माताजी और श्रीअरविन्द के ग्रन्थ पढ़ सकें? हमें उन्हें आश्रम-जीवन के लिए तैयार करना है या “बाहरी” काम के लिए भी? इस बारे में बहुत सारे मत हवा में चक्कर लगा रहे हैं और वे पुराने लोग जिनसे हम यह आशा करते हैं कि वे जानते होंगे, वे भी बहुत-सी अलग-अलग बातें कहते हैं, समझ में नहीं आता कि किस पर विश्वास किया जाये और तदनुसार काम किया जाये। किसी निश्चित और वास्तविक ज्ञान के बिना हम किस आधार पर काम करें? माताजी, मैं आपसे मार्गदर्शन के लिए प्रार्थना करता हूँ।

यह इन ग्रन्थों या अन्य ग्रन्थों को पढ़ने के लिए तैयार करने का सवाल नहीं है। सवाल है उन सबको जो इसके योग्य हों, साधारण मानव विचार, भाव और क्रिया की रूढ़ि में से खींचने का; जो यहाँ हैं उन सबको अपने अन्दर से मानव विचार और क्रिया-पद्धति की दासता को निकाल फेंकने के अवसर देना। जो छात्र सुनना चाहते हैं उन सबको यह सिखाना है कि जीने का एक अन्य एवं अधिक सच्चा मार्ग है, कि श्रीअरविन्द ने हमें बताया है कि किस प्रकार जिया जा सकता और **सत्य सत्ता** बना जा सकता है—और यह कि यहाँ की शिक्षा बच्चों को **उस जीवन** के लिए तैयार करने और उसके योग्य बनाने के लिए है।

बाक्री सबके लिए, मानवीय ढंग से सोचने और जीने के लिए संसार बहुत विशाल है और वहाँ सबके लिए जगह है।

हम संख्या नहीं, एक चयन चाहते हैं; हम प्रखर विद्यार्थी नहीं, सजीव आत्माएँ चाहते हैं।

यह मालूम हो जाना चाहिये और हमें यह खुल कर कहने में संकोच न करना चाहिये कि हमारे विद्यालय का उद्देश्य है उन लोगों को खोजना और उन्हें प्रोत्साहित करना जिनमें प्रगति की आवश्यकता इतनी सचेतन हो गयी है कि उनके जीवन को दिशा दे सके।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. १२८-२९

भौतिक चेतना

अपनी सभी गतियों में संकल्प के पूर्ण समर्पण के द्वारा अपनी अन्तरात्मा को 'भागवत उपस्थिति' और 'शक्ति' के साथ एक करना ही 'कर्म के पथ' का अनुसरण करने वाले जिज्ञासु की उच्च अभीप्सा होती है।

अज्ञानी चेतना और गिरती-पड़ती इच्छा को—जो हमारे वर्तमान मन और प्राण-शक्ति के लिए हमारी अपनी चीज़ें हैं—पुराने धिसे-पिटे छद्मवेश की तरह उतार, अलग कर देना चाहिये और उनके स्थान पर उस प्रकाश तथा ज्ञान, उस पवित्रता तथा शक्ति, उस शान्ति तथा भागवत 'सारतत्त्व' के उस परमानन्द और उस आध्यात्मिक 'प्रकृति' को अपनाना चाहिये जिनसे जिज्ञासु तब आकृष्ट होता है जब वह मन के परे निकल जाता है और तभी वह विजयी होता है।

मन, हृदय, प्राण तथा शरीर को सचेतन बनाना, उन्हें इस अतिमानसिक 'आत्मा' के प्रकाशमान् साँचों में ढाल कर बदल देना, उसके प्रकाश तथा शक्ति और कर्मों के साधन बनाना, उसके परमानन्द और प्रकाश के पात्र बनाना ही वह भव्यता है जिसे जिज्ञासु अपने रूपान्तरित मानव सदस्यों को अर्पित करता है।

एक ओर है अन्धकारमय, अज्ञानी, दुःख झेलता हुआ, प्रकृति से पिटा हुआ, हमेशा उन्हीं समान अँधेरे और दयनीय चक्करों में लट्टू की भौंति घूमता हुआ मन और जीवन, तो दूसरी ओर है वह अन्तरात्मा जिसका प्रच्छन्न 'सत्य' की एक किरण ने स्पर्श कर लिया है, जो प्रदीप्त तथा सचेतन है और जो अपनी स्वयं की तथा जगत् की 'उच्चतम' ऊँचाइयों तक जाने के लिए एकलक्ष्यीय, अथक प्रयास में निरत है—यह है सामान्य मानव जीवन जीने तथा भागवत योग करने के तरीके में भेद।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३४९

भौतिक चेतना वह हिस्सा है जो भौतिक वस्तुओं और भौतिक 'प्रकृति' को सीधा प्रत्युत्तर देती है, बाहरी को ही सच्चा मान लेती है और उसी में फँसी रहती है—वह चिन्तनशील मन की तरह नहीं होती जिसमें विचार और ज्ञान हो, न ही प्राण की तरह होती है जिसमें भाव, आवेश, कामना को सन्तुष्ट करने की सूक्ष्म चाह हो। अगर यह हिस्सा अन्धकारमय हो तो इसमें गभीर या आध्यात्मिक वस्तुओं, भावनाओं इत्यादि को लाना मुश्किल हो जाता है, भले मन या प्राण इन गभीर चीज़ों को पाने के लिए लालायित हों।

CWSA खण्ड २८, पृ. २००

तुम पूछ रहे हो कि भौतिक की तरह क्या मन और प्राण भी आड़े नहीं आते। हाँ, आते हैं, लेकिन जब मैं भौतिक चेतना की बात करता हूँ तो उससे मेरा मतलब होता है, भौतिक

मन और भौतिक प्राण के साथ-साथ ठेठ भौतिक चेतना भी। यह भौतिक मन और भौतिक प्राण जीवन की सामान्य छोटी-छोटी क्रियाओं में ही फँसे रहते हैं, चीज़ों को एकदम बाहरी दृष्टि से देखते हैं और अभ्यासी तुच्छ प्रतिक्रियाओं के हाँके चलते हैं, ये आन्तरिक चेतना को एकदम तुरन्त प्रत्युत्तर नहीं देते, इसलिए नहीं कि सक्रिय रूप से ये उसके विरोधी होते हैं—जिस तरह प्राणिक मन और स्वयं प्राण विरोधी हो सकते हैं—बल्कि इसलिए कि अपनी अभ्यासगत गतियों को बदलने में इन्हें बहुत कठिनाई होती है। यही चीज़ है जिसका तुम अभी अनुभव कर रहे हो और इसी कारण तुम यह सोच रहे हो कि आन्तरिक अनुभूति को प्रत्युत्तर देने में तुम बहुत कच्चे हो। लेकिन यह सच नहीं है; तुम्हारे मन में और तुम्हारे प्राण के अधिकांश हिस्से में प्रत्युत्तर देने की काफ़ी क्षमता है। रही बात भौतिक की, इसकी कठिनाई सार्वभौम है, यानी सभी में है, विशेष रूप से तुम्हारे लिए नहीं है। यह अभी उभरी क्योंकि साधना में जब-जब भौतिक चेतना पर आवश्यक परिवर्तन के लिए कार्य करना होता है तो वह हमेशा सिर उठाती है। जब वह कार्य सम्पन्न हो जायेगा तब तुम अनुभव करोगे कि वह कठिनाई कम होते-होते गायब हो गयी।

CWSA खण्ड २८, पृ. २००

भौतिक चेतना जब सशक्त हो जाती है तब वह सब कुछ पर छा जाती और सारी सत्ता को अपने अधिकार में लेने की कोशिश करती है; यह स्थिति इसलिए आती है क्योंकि जब भौतिक चेतना अपना स्पष्ट रूप अभिव्यक्त करती है तो सब कुछ तमस् और अन्धकार से भरा लगता है, ज्ञान के प्रकाश और शक्ति के उत्साह से रहित लगता है। इस स्थिति को स्वीकार मत करो—अगर यह आये तो श्रीमाँ के प्रकाश और उनकी शक्ति को शरीर-चेतना में उतरने और उसे प्रकाशमान् और शक्तिमान् बनाने के लिए उनकी टेर लगाओ।

Bengali Writings १९९१, पृ. ३९२

अवचेतना की कठिनाइयों से पीछा छुड़ाने के लिए पहले तुम्हें उन्हें पहचानना होगा, फिर उनका त्याग करना होगा और अन्त में आन्तरिक अथवा माँ की उच्चतर ज्योति को शरीर-चेतना में लाना होगा। तब अवचेतना की अज्ञानी गतियाँ खदेड़ दी जायेंगी और अन्य चेतना की गतियों को प्रतिष्ठित कर दिया जायेगा। लेकिन इसे आसानी से नहीं किया जा सकता; तुम्हें धीरज के साथ इसमें लगे रहना होगा, एक संकल्पयुक्त धैर्य होना चाहिये। माँ में श्रद्धा रखना एकमात्र साधन है। बहरहाल, अगर व्यक्ति अपने अन्दर रह सके और आन्तरिक अन्तर्दर्शन तथा चेतना को बनाये रख सके तो अधिक दुःख-कष्ट और श्रम से बचा जा सकता है—लेकिन यह करना हमेशा सम्भव नहीं होता और इसके लिए श्रद्धा और धीरज की विशेष रूप से आवश्यकता होती है।

Bengali Writings १९९१, पृ. ३९१

समय की आवश्यकताओं के अनुसार साधना की जाती है। पहले आन्तरिक साधना होती थी, साधक बस ध्यान लगाये बैठा रहता था। अब यह आवश्यक हो गया है कि नीचे शरीर की चेतना तक में, आन्तरिक तथा बाह्य दोनों को साथ लेकर चला जाये।

Bengali Writings १९९१, पृ. ३९४

या तो चैत्य चेतना को निर्देशक (शासक, चालक और पथ-प्रदर्शक) बन जाना चाहिये और बुद्धि, मन, प्राण तथा भौतिक चेतना को उद्घाटित कर देना चाहिये या फिर उच्चतर चेतना को भौतिक तक में उतर कर सम्पूर्ण सत्ता पर अधिकार जमा लेना चाहिये; तब भौतिक चेतना में एक दृढ़ नींव प्रतिष्ठित हो जायेगी।

Bengali Writings १९९१, पृ. ३९६

श्रीअरविन्द

११ जनवरी १९५६ के वार्तालाप का कुछ अंश

माँ, ६ जनवरी को आपने कहा था: “जो कुछ तुम हो, जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब दे दो, उससे अधिक कुछ भी तुमसे नहीं माँगा जाता पर उससे कुछ कम भी नहीं।”

हाँ।

“जो कुछ तुम्हारे पास है” और “जो कुछ तुम हो” इसका तात्पर्य क्या है?

मैं तुम्हें बताती हूँ कि मैंने यह किन परिस्थितियों में लिखा था; उससे तुम समझ जाओगे। किसी व्यक्ति ने अपने पत्र में मुझे यह लिखा था कि वह बहुत दुःखी है क्योंकि वह अद्भुत क्षमताएँ पाना चाहता था ताकि ‘सिद्धि’ और ‘कार्य’ के लिए उन्हें भगवान् के हाथों में सौंप दे; और वह यह भी चाहता था कि दिव्य कार्य की पूर्ति के लिए दान देने के लिए, भगवान् के चरणों में अर्पित कर देने के लिए उसके पास प्रचुर धन हो। अतएव मैंने उसे उत्तर दिया कि तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिये, प्रत्येक मनुष्य से वही देने को कहा जाता है जो उसके पास है, अर्थात्, उसकी समस्त सम्पत्ति, वह चाहे जो कुछ भी हो, और जो कुछ वह स्वयं है, अर्थात्, उसकी समस्त सम्भावनाएँ—जिसका तात्पर्य होता है अपना सारा जीवन अर्पित कर देना तथा अपना समस्त धन-वैभव अर्पण कर देना—और जो कुछ माँगा गया है उससे ज़रा भी अधिक नहीं। जो कुछ तुम हो उसे दे दो; जो कुछ तुम्हारे पास है उसे दे दो, और तुम्हारा दान पूर्ण

हो जायेगा; आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह पूर्ण होगा। यह इस बात पर निर्भर नहीं करता कि तुम्हारे पास कितना धन है या तुम्हारी प्रकृति में कितनी संख्या में सम्भावनाएँ विद्यमान हैं; यह निर्भर करता है तुम्हारे दान की पूर्णता पर, कहने का तात्पर्य, तुम्हारे अर्पण की समग्रता पर। मुझे याद है, भारत के आख्यानों का वर्णन करने वाली एक पुस्तक में, मैंने इस प्रकार की एक कहानी पढ़ी थी। एक बहुत गरीब, बहुत बूढ़ी औरत थी जिसके पास कुछ नहीं था, जो बहुत दुखिया थी और एक छोटी-सी टूटी-फूटी झाँपड़ी में रहती थी। उसे एक दिन एक फल मिल गया। वह आम का फल था। उसने आधा फल खा लिया था और बाक़ी आधा दूसरे दिन के लिए रख दिया, क्योंकि वह एक इतना अनोखा फल था जिसे प्राप्त करने का अवसर उसे बार-बार नहीं मिलता था—वह आम था। और तब, रात हो जाने पर, किसी व्यक्ति ने उसके जर्जरित दरवाज़े को खटखटाया और आतिथ्य की याचना की। वह व्यक्ति अन्दर आया और उसने बुढ़िया से कहा कि उसे रातभर के लिए आश्रय चाहिये और वह भूखा है। इस पर बुढ़िया ने उससे कहा: “बहुत अच्छा। मेरे घर में तुम्हारे तापने के लिए आग नहीं है, तुम्हारे ओढ़ने के लिए कम्बल नहीं है, यह आधा आम बचा हुआ है, बस, इतना-सा ही मेरे पास है यदि तुम इसे पसन्द करो; इसका आधा मैंने खा लिया है।” और बाद में पता चला कि यह व्यक्ति और कोई नहीं, स्वयं शिव थे और वह वृद्धा एक आन्तरिक ज्योति से भर गयी, क्योंकि उसने अपने-आपको और उसके पास जो कुछ था उसे पूर्ण रूप से अर्पित कर दिया था।

मैंने इसे पढ़ा था और यह कहानी मुझे बहुत अपूर्व लगी थी। हाँ, यह बहुत सटीक वर्णन है। यह ठीक वही चीज़ है।

धनाढ्य लोग, यहाँ तक कि वे लोग भी जो बहुत अच्छी अवस्था में हैं और जिन्हें जीवन में सब प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हैं, भगवान् को उतना ही देते हैं जो उनके पास अपनी आवश्यकता से अधिक होता है—क्योंकि साधारणतया यही होता है लोगों का मनोभाव: मनुष्य के पास होता है अपनी आवश्यकता से थोड़ा अधिक धन, मनुष्य के पास होती हैं अपनी आवश्यकता से थोड़ी अधिक वस्तुएँ, और इसलिए, उदारता के साथ, वह उन्हें भगवान् को दे देता है। यह कुछ न देने से बेहतर है। परन्तु मनुष्य की आवश्यकता से यह “थोड़ा अधिक” यदि लाखों रुपयों के भी समान हो तो भी यह दान आधे आम के दान से कम पूर्ण होता है। क्योंकि सच पूछा जाये तो इसका माप परिमाण या प्रकार से नहीं किया जाता: इसका माप होता है दान की सद्हृदयता से और उसकी परिपूर्णता से।

परन्तु धनी लोग यदि साधारण जीवन में अपना धन भगवान् को देना चाहें, और भगवान् उनके सामने न हों तो फिर वे किसको दें? वे नहीं जानते कि वे अपना धन कहाँ लगायें!

हाँ, परन्तु तब यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि उन्हें अन्दर या बाहर कहीं भी भगवान् का साक्षात्कार

न प्राप्त हुआ हो तो फिर इस बात का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। उनसे उस व्यक्ति को कुछ देने के लिए नहीं कहा जाता जिसे वे जानते ही नहीं।

यदि उन्होंने अपने अन्दर भगवान् को देखा है, तो फिर उनके पास जो कुछ है उसका उपयोग उन्हें भगवान् द्वारा प्राप्त संकेत के अनुसार ही करना चाहिये; और जो संकेत उन्हें प्राप्त होते हैं उनका यदि वे पूरी सच्चाई के साथ और ठीक-ठीक अनुसरण करें तो बस उनसे इतनी ही माँग की जा सकती है। परन्तु जब तक वह मुहूर्त नहीं आता तब तक किसी से कुछ भी नहीं माँगा जा सकता।

माँगना तभी शुरू होता है जब कोई आकर कहता है: “यह रहा मैं, मैं अपने-आपको भगवान् के चरणों में निवेदित करना चाहता हूँ।” तब स्थिति बिलकुल ठीक होती है, उसी क्षण से माँगा जाता है; परन्तु उससे पहले नहीं। उससे पूर्व, यदि चलते-चलते तुम अपनी जेब से एक पैसा निकाल लो और वहाँ रख दो तो यह बहुत अच्छा है; तुमने वह कर दिया जिसे तुमने करना उचित समझा और बात समाप्त हो गयी; किसी ने तुम से कुछ देने को बिलकुल नहीं कहा। अपने-आपको स्वीकार किये जाने के लिए भगवान् से प्रार्थना करना और फिर, अपना सद्भाव तो प्रदर्शित करना पर अपनी जीवन-धारा में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की ज़रा भी इच्छा न रखना, इनके बीच बहुत अधिक अन्तर है।

जो लोग साधारण जीवन यापन करते हैं, हाँ, वे यदि सदिच्छा का भाव दिखाते हैं तो यह उनके लिए बहुत अच्छा है, यह उनके लिए भावी जीवनो की पूर्वावस्था का निर्माण करता है। परन्तु जिस क्षण मनुष्य कहता है: “हाँ, अब मैं जानता हूँ कि केवल एक ही वस्तु है जो मेरे लिए महत्त्व रखती है, वह है दिव्य जीवन, और मैं दिव्य जीवन यापन करना चाहता हूँ”—बस, उसी क्षण से उससे माँगा जाता है, उससे पहले नहीं।

माँ, कुछ लोग हैं जो यहाँ आते हैं, जिनके पास पैसा है और जो बहुत भक्त हैं, जो अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं, पर जब पैसे का प्रश्न उपस्थित होता है, वे मोलतोल करने लगते हैं...। तब भला हम उनके साथ मैत्रीपूर्ण सम्पर्क कैसे रख सकते हैं?

क्या?

वे भक्त हैं, भगवान् के प्रति अपनी भक्ति दिखाते हैं...

किस ढंग से? जो कुछ सम्भव हो वह सब भगवान् से लेकर?

... परन्तु जब पैसे का प्रश्न सामने आता है, वे मोलतोल करते हैं, वे हिसाब करते हैं।

मैं कहती हूँ, मैंने उत्तर दे दिया है, बात ऐसी ही है। वे भगवान् से जो कुछ भी लिया जा सके, सभी प्रकार के गुण, सभी क्षमताएँ, साथ ही सभी सुविधाएँ, सभी प्रकार के आराम, प्रत्येक चीज़, और कभी-कभी तो शक्तियाँ आदि भी, लेने की भावना के साथ आते हैं। वे लेने के लिए आते हैं, देने के लिए नहीं। और उनका भक्ति का बाहरी दिखावा एक चोगा-मात्र होता है जिसे वे लेने की, ग्रहण करने की अपनी इच्छा के ऊपर डाले रखते हैं। इसमें बहुत कुछ छिपा रहता है : अपनी आत्मा का उद्धार करने, आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने, शक्तियाँ प्राप्त करने से यह आरम्भ होता है और समाप्त होता है एक छोटे-से शान्त जीवन के साथ, जो सुखपूर्ण... कम या अधिक सुखपूर्ण हो, कम-से-कम अल्प सुखों से तो युक्त हो—और चिन्ताओं से रहित, झंझटों से बरी हो, जीवन की उथल-पुथल से बहुत दूर हो। तो ऐसा है। इसमें बहुत कुछ आ जाता है। परन्तु वे यदि देते हैं तो यह एक प्रकार का सौदा होता है; वे जानते हैं कि वह सब लेने के लिए अच्छा होगा कि थोड़ी-सी कोई चीज़ दे भी दी जाये, अन्यथा वे उसे नहीं पायेंगे। अतएव वे बहुत भक्तिपरायण होने का दिखावा करते हैं। परन्तु यह केवल एक बाहरी रूप होता है, क्योंकि इसमें सच्चाई नहीं होती।

उनके लिए दुर्भाग्य की बात यह होती है कि उससे कोई धोखा नहीं खाता। उसे बर्दाश्त किया जा सकता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उससे कोई धोखे में पड़ता है।

मोलतोल सर्वत्र है, सत्ता के सभी भागों में है। सर्वदा ही लेन-देन का व्यापार चलता रहता है, उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियों से लेकर क्षुद्रतम सामान्य भौतिक आवश्यकताओं तक। लाखों-करोड़ों में एक भी व्यक्ति नहीं जो मोलतोल के बिना देता हो।

और जो कहानी मैंने तुम लोगों को सुनायी—इसके अतिरिक्त इस तरह की यहाँ बहुतेरी दूसरी कहानियाँ हैं—उसकी खूबी बस यही है कि जब बुढ़िया ने दिया, वह यह नहीं जानती थी कि वे व्यक्ति स्वयं शिव हैं। उसने तो रास्ते के एक भिखारी को दिया, भलाई करने के, दान करने के आनन्द के लिए दिया, इसलिए नहीं दिया कि यह एक देवता है और उसे यह आशा थी कि बदले में उसे मुक्ति या कोई ज्ञान प्राप्त होगा।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ८, पृ. १७-२१

५ सितम्बर १९१४ की प्रार्थना

“संकट का सामना कर।” तूने मुझसे कहा, “तू कर्म से अपनी दृष्टि क्यों फेर लेना चाहती है या कर्म से क्यों दूर भागना चाहती है, युद्ध से क्यों सत्य के गहरे ध्यान की ओर भागना चाहती है? सत्य की पूर्ण अभिव्यक्ति को चरितार्थ करना चाहिये, सभी विघ्न-बाधाओं और अँधेरे विरोधों पर उसकी विजय लानी चाहिये। संकट के चेहरे से आँखें मिला और वह ‘शक्ति’ के आगे विलीन हो जायेगा।”

हे प्रभो, मैं इस बाह्यतम प्रकृति की दुर्बलता को समझ गयी हूँ जो सदा भौतिक वस्तुओं का समर्पण करके बदले में, परम बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता में बच निकलना चाहती है। लेकिन तू हमसे कर्म की आशा करता है और कर्म ऐसी वृत्ति के लिए छूट नहीं देता। केवल आन्तरिक लोकों पर विजय पा लेना काफ़ी नहीं है, हमें अधिकतम जड़-भौतिक लोकों तक की गहराई में भी विजय पानी है। हमें कठिनाई या बाधा से इसलिए नहीं भाग निकलना चाहिये क्योंकि हमारे अन्दर यह सामर्थ्य है कि हम ऐसी चेतना में जाकर शरण ले सकें जहाँ ये बाधाएँ नहीं हैं।... हमें तेरी ‘सर्वशक्तिमत्ता’ पर श्रद्धा रखते हुए संकट की आँखों में सीधा देखना चाहिये और तब तेरी ‘सर्वशक्तिमत्ता’ की विजय होगी।

हे प्रभो, मुझे पूर्णतया योद्धा का हृदय प्रदान कर और तेरी विजय निश्चित है। वर्तमान आदर्श वाक्य होना चाहिये, “किसी भी क्रीमत पर विजय प्राप्त करो।” इसलिए नहीं कि हम कर्म और उसके परिणामों से आसक्त हैं, इसलिए नहीं कि हमें ऐसे कर्म की ज़रूरत है, इसलिए नहीं कि हम सभी संयोगों से बच निकलने में असमर्थ हैं।

बल्कि इसलिए कि तूने हमें कर्म का आदेश दिया है। इसलिए कि पृथ्वी पर तेरी विजय का मुहूर्त आ गया है। इसलिए कि तू सम्पूर्ण विजय चाहता है।

और जगत् के लिए अनन्त प्रेम के साथ... चलो हम लड़ें !

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १, पृ. १३८-३९

श्रीअरविन्द के उत्तर

(८८)

आज दोपहर के बाद करीब पन्द्रह मिनट तक मैं शान्त तथा निश्चिन्त अवस्था में रहा। ऐसा लगा कि करने के लिए कुछ है ही नहीं, और मैं अपने अन्दर कुछ गहराई में चला गया, मैं तो निश्चल-नीरवता के सागर में ही डूब जाता। मैं इस अवस्था से रत्ती-भर भी हटना नहीं चाहता था, लेकिन अभ्यासवश मुझे भोजनालय जाना था। वह तीव्रता छितर गयी, हालाँकि बहुत समय तक चेतना में उस अचञ्चलता का लक्षण बना रहा। मुझे सन्देह है कि फ्रेंच सीखने की क्रिया क्या अधिक गहरी एकाग्रता की सम्भावना में विघ्न पैदा कर रही है, जिस एकाग्रता को अन्यथा मैं सम्भवतः बनाये रखता।

मुझे पता नहीं। अगर निश्चल-नीरवता में इस तरह शान्ति उतर आये तो उसे तोड़ना बहुत शोचनीय होगा, लेकिन मुझे लगता है कि अगर तुमने ऐसा अनुभव किया तो तुम पढ़ना शुरू ही नहीं करते। मुझे लगता है कि तुम कहना यह चाहते हो कि पढ़ने की बजाय अगर तुम एकाग्रता में डूबे रहो तो शायद निश्चल-नीरवता प्रायशः आये और अधिक समय तक बनी रहे। ऐसा हो सकता है, अगर तुम्हारे अन्दर निश्चल-नीरवता की ओर झुकाव हो और तुम चाहते हो कि स्वतन्त्रता भी साथ आये।

कितनी ऊष्माभरी गन्ध! ऐसी गन्ध मैंने पहले कभी अनुभव नहीं की, किसी भी चीज़ से मैं इसकी तुलना नहीं कर सकता। शायद यह जैव रासायनिक परिवर्तन की गन्ध हो, लेकिन बाद में मेरे अन्दर मानों कोई बोध जागा और मैंने अनुमान लगाया कि यह स्वयं उस अतिमानस की गन्ध हो जो धरती के केन्द्र में रेडियम गैसों के बीच कुण्डलित हो और अब ऊपर से आते हुए अपने प्रतिरूप से मिलने के लिए हिल-डुल रहा हो। वरना, सीढ़ी पर या जब मुझे आपकी चिट्ठियाँ मिलती हैं तो यह चीज़ इतनी स्पष्ट क्यों हो जाती है? लेकिन इसका अर्थ होगा कि ४००० मील से आया हुआ अतीन्द्रिय संवेदन जो पृथ्वी के केन्द्र में उतर आया, लेकिन उस गन्ध को पा सकने की सामर्थ्य विकसित करने के लिए तो मैं बहुत, बहुत दूर हूँ।

वह मुश्किल से यह चीज़ हो सकती है। निश्चय ही यह कोई सूक्ष्म गन्ध होगी जो तुम्हें मिली, भौतिक नहीं हो सकती।

कैसी शुष्कता छा गयी है मेरे अन्दर—सचमुच अवर्णनीय है। व्यक्ति वे ही सामान्य चीज़ें उसी सामान्य तरीके से करता चला जाता है, शायद कार्य में कुछ अधिक रस के साथ वह करे, लेकिन फिर भी सब कुछ शुष्क लगता है—धरती तो और भी सूखी—और व्यक्ति भविष्य को भी रेगिस्तान की तरह देखता है। यहाँ तक कि निश्चल-नीरवता और शान्ति—क्या वे भी शुष्क नहीं हैं? मेरा मस्तिष्क शुष्क मालूम हो रहा है मानों मेरी स्मृति और बुद्धि भी सूख रही हैं। अगर कुछ समय ऐसा और चला तो मेरे लिए तो यह दमघोटू अवस्था हो जायेगी।

और फिर आती है शाद्वलता, यानी हरियाली। मुझे ऐसा मालूम होता है मानों सभी चीज़ें प्रेम करने के लिए हैं! बड़ा अजीब है, और मेरे अन्दर सीमेंट के गारे के लिए भी प्यार उमड़ आता है! फिर मुझे याद आता है कि हो सकता है कि यह कोई विकार हो, शायद सेक्स-विकार हो। तो इस भाँति शुष्कता और इस तरह के प्रेम के बारी-बारी से काल आते ही रहते हैं।

शुष्कता उस उदासीन अवस्था से आती है जिसमें कोई निम्न या परेशान करने वाली क्रिया नहीं होती, लेकिन वह सकारात्मक अचञ्चलता नहीं होती। रही बात उस प्रेम की जो ऊपर उठ आया था, वह निस्सन्देह सभी चीज़ों में भगवान् के लिए वैश्व प्रेम था—कोई विकार नहीं—लेकिन निश्चय ही निम्न प्राण विषयान्तर के लिए इसे आरम्भ-बिन्दु बना सकता है। वैश्व प्रेम हमेशा शुद्ध-पवित्र होता है, प्राण के भटकाव इसे अपवित्र नहीं बनाते—क्योंकि ये अपने-आपमें प्रेम नहीं होते बल्कि यह एक विकार होता है जो अपनी गति को सम्पन्न करने के लिए इस विकार को एक बहाने के तौर पर सामने ले आता है, लेकिन यह एकदम से अलग ही चीज़ है।
१८ जून १९३५

एक सपना आया जिसमें श्रीमाँ बीमार थीं। वे मेरे पास सो रही थीं। एक बार जब वे मुस्करायीं तो सपने में मैंने कल्पना की कि मैंने उनके मुख में कई ब्रह्माण्ड देखे जैसे यशोदा मैया ने श्रीकृष्ण के मुख में देखे थे। उसी समय सपने में मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानों मैं जगत् से ऊपर उठा लिया गया होऊँ और उससे एकदम मुक्त होकर, वहाँ से उसे साक्षी के रूप में देख रहा होऊँ। मुझे स्पष्ट रूप से उठने के उस भाव की याद है—कोई हिस्सा उठा लिया गया था और वह मुक्त हो गया था। लेकिन श्रीमाँ बीमार हैं इस भाव ने मेरे अन्दर शक पैदा कर दिया कि वह कोई और हो, कोई अन्य प्रभाव।

मुझे नहीं लगता कि वह कोई अन्य प्रभाव था। यह बहुत सच्ची और प्रामाणिक अनुभूति लग रही है।

बहुत दिनों से मैं यह गौर कर रहा हूँ कि बुधवार में कुछ है—कुछ बाधा, कुछ अवसाद या कम-से-कम एक छितराव तो होता ही है। आज छितराव की बारी थी। कितने-कितने लोगों से बातचीत की आज मैंने। भोजनालय में आज के खाने में चीनी के बारे में बातें करने से मैंने शुरू किया। फिर हरिन् आ गया—वह हम सबसे कई महीनों बाद मिला, और उसने हम सबको इस सन्देह में डाल दिया था कि कहीं वह पथभ्रष्ट तो नहीं हो गया। और फिर जसवन्त, जब वह गुलेल से खेल रहा और कौओं को डरा रहा था, साग्रह कह रहा था कि अब हरिन् उस समान एकाग्रचित्त अवस्था में नहीं लगता जैसा कि पहले हुआ करता था। और इसी तरह यह चलता रहा जब तक कि मैंने यह नहीं पाया कि मेरा मस्तिष्क ख़ाली था, उसमें किसी भी तरह का कोई आध्यात्मिक सन्तोष न था!

मेरे ख़याल से यह बस एक “लय” है, या फिर बुधवार में कुछ विशेषता है—कोई ठोस कारण?
१९ जून १९३५

एक अन्धी बूढ़ी औरत सड़क पर जा रही है। जब वह किसी चीज़ से टकरा कर गिरने वाली थी मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। हम एक निर्माणाधीन इमारत के नीचे आ पहुँचे और एक सँकरी गली से होकर गुज़रे। उसके अन्त में एक खुली जगह है और तीन बच्चे और एक घोड़ा है। घोड़ा उनमें से एक बच्चे पर गिर जाता है। मैं ऊपर देखता हूँ और बच्चे की जगह वहाँ एक पशु-शावक को पाता हूँ—मालूम होता है मानों घोड़ा बाघ में बदल गया हो। अब तक वह अन्धी औरत गायब हो गयी। फिर एक सर्कस चलने लगा, फिर एक रिश्तेदार मलहम लगवाने के लिए मेरा इन्तज़ार कर रहा है—ऐसे-ऐसे असंगत सपनों की शृंखला चलती रही—सभी, सभी सामान्य जीवन के सपने; और यह तब तक चलती रही जब तक कमला ने छत से मुझे एक पुस्तक देने के लिए न पुकारा। मैंने उससे कहा कि वह जाकर विश्वकोश ले ले। पास से देखने पर मैंने पाया कि वह कमला की तरह नहीं थी, मैंने उसकी उँगलियाँ छुईं और उस स्पर्श ने मुझे कामुक-संवेदना दी। जागने पर मुझे सारा सपना याद था, लेकिन कैसा था यह गड़बड़झाला!

अवचेतन सपनों का यह सामान्य गड़बड़झाला है—गड़मड़ता उनका विशेष स्वभाव होती है।

ऐसा लगता है कि मायावादिन् संन्यासियों से कहीं अधिक हम लोग जगत् से कतराते हैं—उनमें से कुछ कम-से-कम हस्तपाल, विद्यालय तो खोलते हैं, दुर्भिक्ष इत्यादि के राहत-कार्यों में मदद तो करते हैं; वे तो सत्याग्रह में भी भाग लेते हैं। इस तरह

वे मायावाद की बस बातें करते हैं, जब कि हम माया को देखते हैं और उससे एकदम से बच कर निकल जाते हैं। उसी तरह, अहिंसा का डंका पीटने वालों से कहीं अधिक अहिंसा हम शिकारियों और योद्धाओं में पा सकते हैं!

बहुत सम्भव है। मायावादिन् (मेरा मतलब आजकल के मायावादिनों से है) और हमारे बारे में तुम्हारा कहना सही है। पहले के मायावादिन् बहुधा अधिक सुसंगत हुआ करते थे, सिवाय इसके कि वे किताबें लिखा करते, उपदेश दिया करते, वाद-विवाद किया करते थे और उन्होंने ऐसी संस्थाओं की स्थापना की थी जो ऊर्जा का अपव्यय मालूम होती थीं—अगर सब कुछ माया है। उनकी सारी ऊर्जा माया से बाहर निकलने में प्रयुक्त होनी चाहिये थी। रही बात हमारी अवस्था की, वह यह है कि इस अर्थ में सामान्य जीवन माया है, लेकिन यह नहीं कि यह भ्रम है, क्योंकि इसका अस्तित्व है और यह बहुत वास्तविक है, लेकिन साथ ही यह भी कि यह एक अज्ञान है, जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मिथ्यात्व पर आधारित है। अतः, यह युक्तियुक्त है कि इससे कतराया जाये, या फिर यह कहें कि इसके साथ कुछ सम्पर्क रखने के लिए तो हम बाध्य होते हैं, लेकिन हमें इसके साथ कम-से-कम सम्पर्क साधना चाहिये, बस उतना ही जितना हमारे उद्देश्य के लिए लाभप्रद हो। हमें जीवन को मिथ्यात्व से आध्यात्मिक सत्य में बदलना है, अज्ञान के जीवन से हट कर आध्यात्मिक ज्ञान के जीवन में प्रवेश करना है। लेकिन जब तक यह चीज़ अपने लिए करने में हम सफल नहीं होते, तब तक जगत् के अज्ञानभरे जीवन से अलग हट कर रहना ही ज़्यादा अच्छा है—वरना धीमी गति से बढ़ता हुआ हमारा छोटा-सा प्रकाश हमारे चारों ओर के अन्धकार के समुद्रों में एकदम से डूब जायेगा। वैसे भी यह उद्यम अपने-आपमें काफ़ी मुश्किल है—और अगर कोई पृथक्ता न हुई फिर तो यह दसगुना अधिक मुश्किल हो जायेगा।

२० जून १९३५

कल से मेरी इच्छा हो रही है कि फ्रेंच पढ़ना एकदम से बन्द करके कर्म से अधिकाधिक जुड़ जाऊँ। आज जब मैंने अपने-आपको काम में सीमित कर लिया और उसमें डूब गया तो अब बहुत आराम महसूस कर रहा हूँ। और फिर मुझे इतने प्रचण्ड रूप में लगने लगा कि मैं फ्रेंच और उसे पढ़ने के इस भीषण लगाव को एकदम से छोड़ दूँ और बेंजामिन से जाकर यह कहने के लिए मैंने कमर कस ली कि बस अब सब ख़तम, मैं फ्रेंच एकदम से छोड़ रहा हूँ। लेकिन कुछ समय बाद मैंने सोचा कि यह बस मेरे मन का उतार-चढ़ाव हो सकता है और मुझे इतनी जल्दबाज़ी में कोई क़दम नहीं उठाना चाहिये। वरना, बाद में न पढ़ने की वजह से मुझे उतना ही बुरा लगेगा, ख़ासकर अगर सब कुछ दोबारा गड़बड़झाले में पड़ गया तो एकदम से बण्टाटार हो जायेगा।

हाँ, ज़्यादा अच्छा है कि ज़रा ठहर कर यह देख लो कि क्या यह स्थायी आवश्यकता है या कोई अस्थायी भावना।

मैं न श्रीमाँ के 'Entretiens' पढ़ पाया न उनकी प्रार्थनाएँ, इसलिए मैंने उनके 'वार्तालाप' की पुस्तक उठा ली और उसे पढ़ने लगा। मेरी समझ में कुछ आ रहा था, लेकिन मैं जो पढ़ रहा था उसमें अपना मन न लगा पाया। किसी भी गम्भीर चीज़ के बारे में चिन्तन-मनन करना मेरे लिए एकदम असम्भव हो गया; मेरा मन ज़रा भी स्थिर नहीं हो पाया, इधर-से-उधर भटकता ही रहा। स्पष्ट रूप से यह बुधवार के छितराव का प्रभाव है जो अब तक चल रहा है। और हालाँकि बाहरी रूप में मैं पहले से ज़्यादा तटस्थ रहने की कोशिश कर रहा हूँ, लेकिन अन्दर से हालत बहुत खस्ता है और मुझे महसूस होता है मानों मैं एक जगह से दूसरी जगह पर बस भटक रहा हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि यह छितराव जल्दी ही तितर-बितर हो जायेगा। अगर व्यक्ति के अन्दर अचञ्चलता का अवतरण हो जाये तो वह उत्तम उपचार होगा।

२१ जून १९३५

एक तरफ़ तो उभर रही हैं शान्ति और अचञ्चलता, दूसरी तरफ़ सिर उठा रहा है उर्नीदापन और थकान, हालाँकि मैं काफ़ी सोया। यह अचञ्चलता मानों ऐसी है कि मेरी हिलने-डुलने तक की भी इच्छा नहीं हो रही, यद्यपि मैंने तेज़ी से चलने की कोशिश भी की। मेरी इच्छा हुई कि मैं एक जगह पर बैठ कर ध्यान करूँ।

जब शान्ति उतरती है तो बहुत बार यही प्रभाव होता है। उर्नीदापन और थकान प्राणिक भौतिक की अस्थायी प्रतिक्रियाएँ हैं, ये तब होती हैं जब शान्ति के अवतरण से उसकी सामान्य अशान्त गतियों पर रोक लग जाती है।

२२ जून १९३५

भारी उदासी-भरी नीरसता के बावजूद, जिसमें मुझे लग रहा था कि मैं अपने शरीर का भार भी उठाने में असमर्थ हूँ, मेरा मन इधर-से-उधर कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाये जा रहा था, किसी स्थिर निशाने पर वह टिक नहीं रहा था। उदासी, मधुरता और मन की भटकन की खिचड़ी! और सारे समय वातावरण में एक अजीब, मीठी-सी महक थी, जैसे क्लोरोफ़ॉर्म की होती है। मुझे मालूम नहीं कि क्या यह अस्थायी मधुमेह था जिसकी वजह बुधवार को भोजनालय में बनायी गयी हद से ज़्यादा मीठी

मिठाई हो, जो एसीटोन या किसी ऐसे तत्व में बदल गयी हो जैसे क्लोरोफॉर्म, जिसकी मीठी गन्ध होती है।

मीठी महक के बारे में मैं तुम्हारी इतनी अधिक वैज्ञानिक व्याख्या से सहमत नहीं हो सकता। यह निश्चित रूप से सूक्ष्म गन्ध है।

मौसम फिर से ठण्डा हो गया (हालाँकि बदली छापी हुई है), और मैं अपने अन्दर फिर से शीतलता का प्रवाह अनुभव कर रहा हूँ, अब कल का वह आलस और मन्दता नहीं रहे। निस्सन्देह, मैं यह नहीं कह सकता कि क्या यह आन्तरिक शीतलता या शान्ति है या फिर मौसम का बदलाव है जो इसे ले आया। वह कितना सतत प्रवाह है। या फिर यह भ्रम है?

अगर तुम शीतलता के लगातार प्रवाह का अनुभव कर रहे हो तो वह भ्रम कैसे हो सकता है। मुझे नहीं लगता कि ठण्डा मौसम ऐसे किसी भी लगातार प्रवाह का सृजन कर सकता है।
२३ जून १९३५

सवेरे कुछ एकाग्रता और शान्ति थीं, लेकिन नाश्ते के बाद, प्रायः तुरन्त बाद, ज़्यादा बोलने की प्रवृत्ति ने चेतना को नीचे गिरा दिया, छितरा दिया। लेकिन आखिरकार, क्या ज़्यादा बोलना बुरा है? मैं देखता हूँ कि चन्द्रलाल, यहाँ तक कि अनिलवरण और नलिनी तक प्रायः सारे दिन बोलते रहते हैं। फिर मैं क्यों चिन्तित हूँ भला इसके लिए?

कोई हानि नहीं, बशर्ते यह उस एकाग्रता और शान्ति में बाधक न बने जो अपने समय पर उतरती हैं।

२४ जून १९३५

फ्रेंच पढ़ने की क्रिया ने बस कुछ समय के लिए सेक्स की कल्पनाओं में रमने या अपने घर जाने की उत्कण्ठा को दबाया-भर। जैसे ही मैंने पढ़ना छोड़ दिया मैंने देखा कि वे सभी चीज़ें लौट आयीं। आज यह चीज़ बहुत स्पष्ट हो गयी। जैसे ही मुझे पैरों की आहट सुनायी देती है मैं कल्पना करने लगता हूँ कि 'व' आ रही है, जब कि महीने-भर से मैंने उसे न के बराबर देखा है, बात तो और भी कम की। एक तरह से यह बात बड़ी अजीब लगती है कि मैं केवल उसी से बातचीत नहीं करता जब कि और सबके साथ बोलता हूँ। क्या यह ज़्यादा अच्छा न होगा

कि सैकड़ों बार यह कल्पना करने की जगह कि मानों वह सारे समय मेरे समीप ही है, मैं कभी-कभी उससे बातचीत ही कर लिया करूँ? कम-से-कम जब हमारी आपस में बातचीत हुआ करती थी तब मैं उसे अपने इतने करीब अनुभव नहीं किया करता था। ऐसे नीचे दबा कर रखने की वजह से तो यह प्रायः विकार-जैसी अवस्था बन गयी है।

ऐसा हो सकता है, लेकिन तुम्हें सावधान रहना होगा कि तुम्हारी बातचीत सीमा के अन्दर हो और रोगविरोधी हो, ताकि इस असामान्य काल्पनिक व्यस्तता से तुम मुक्त हो जाओ।

मानों हर दूसरे दिन का यह कामुक स्वप्न-दोष काफ़ी नहीं है, क्योंकि कल से हस्त-मैथुन करने का दबाव ज़ोर मार रहा है, शायद इसका कारण मासिक आदत हो। आज मैं इसकी ओर धकेला जा रहा हूँ, और इसका साथ दे रही हूँ सभी तरह की कामुक-कल्पनाएँ, जैसे 'च' और 'स' को आलिंगन में बाँध लेने की कल्पना। जैसे ही मैं एकाग्र होना या कोई किताब पढ़ना शुरू करता हूँ, यह चीज़ ऊपर उठ आती है। अगर मैं बाहर जाकर चलूँ-फिरूँ तो यह शान्त हो जाती है।

पढ़ने के समय यह कैसे आ जाती है? किताब में लगी तल्लीनता को इसे एकदम परे रखना चाहिये।

लेकिन 'व' से बातचीत शुरू कर देने से भी समस्या का हल नहीं हो पायेगा। जैसे ही मैं उससे बातें करूँगा, मैं उसके बारे में अधिकाधिक सोचता रहूँगा; हर बार जब मैं उससे मिलूँगा, उससे कुछ-न-कुछ कहने का बहाना ढूँढ़ता रहूँगा। और फिर उसे इस तरह परेशान करना भी अन्याय होगा जब वह अपने पथ पर एकाग्रता के साथ चल रही है। जहाँ तक मैं उसके स्वभाव को जानता हूँ, वह किसी सम्पर्क को हमेशा के लिए छोड़ देने पर इतनी दुःखी न होगी जितनी उसे बनाये रखने या बार-बार तोड़ कर जोड़ने में। बातें करने पर, हम दोनों में से किसी को भी सकारात्मक लाभ मिलने की कोई सम्भावना नहीं दीखती; बल्कि इसमें तो खतरा ही है, भले घोर न हो, लेकिन बिखराव तो ज़रूर होगा। मेरी समझ में नहीं आता कि 'व' में ऐसा क्या है कि मैं उसे पूरी तरह से भुला नहीं पाता। या तो उसके अन्दर कोई बहुत ही आकर्षक चीज़ है या मेरे प्राण में ऐसी कोई बहुत लसलसी चीज़ है जो उसे पाना चाहती है। अगर उसके अन्दर कुछ आकर्षक या सुन्दर है तो उसे 'भगवान्' पर छोड़ दिया जाये कि वे उसे एक सुन्दर यन्त्र में परिवर्तित कर दें, बजाय इसके कि मेरे सड़े-बुचे प्राण को यह अनुमति मिले कि वह उसकी भलाई

और सौजन्यता का उपभोग करे और उसमें अपनी अश्लील और मैली-कुचैली शक्तियाँ ले आये।

तुम जो कह रहे हो वह निस्सन्देह सही है। 'व' में बहुत कुछ परिष्कृत है, लेकिन सामान्य रूप में वह इतनी आकर्षक नहीं है जैसी कि दूसरी कई युवतियाँ हैं। मेरे खयाल से यह केवल प्राणिक खिंचाव है जिसने यह चुनाव किया और एक बार चुनाव कर लेने पर प्राण आसानी से उन स्पन्दनों को बार-बार पाता है।

२५ जून १९३५

किसी-न-किसी बहाने कामुक-आवेश अन्दर आने की कोशिश करता है। यहाँ तक कि सरल-से-सरल कल्पना या विचार, जिनके पीछे-पीछे चली आती हैं कल्पनाओं और विचारों की कड़ियाँ, सब इसी आवेश पर ले जाते हैं। मैं 'च' से बातचीत करता हूँ और उसके साहचर्य^१ से 'व' का विचार प्रमुख रूप से पीछे बना रहता है। यहाँ तक कि घर के लोगों की स्मृति भी अन्त में बस कामुक-कल्पनाओं की ओर ले जाती है। कुछ समय के लिए राजनीति या पढ़ाई अथवा दोस्तों के बारे में विचार आते हैं, लेकिन वे सब रूखे-सूखे लगते हैं और अन्ततोगत्वा उनकी जगह भी वही समान कामुक-आदान-प्रदान चलता रहता है।

इस तरह का दुराग्रह केवल तभी सम्भव है जब बाहर से किसी प्रबल कामुक-शक्ति का प्रयास होता है कि वह व्यक्ति को धर दबोचे। यह बहुत ही ज़रूरी है कि भले वह जितना भी दबाव क्यों न डाले, लेकिन उसे तुम्हें अपने चंगुल में पकड़ने की अनुमति कभी नहीं देनी चाहिये। उसे हमेशा के लिए दूर रखना या दूर ढकेल देने का यही एकमात्र उपाय है ताकि बार-बार वापस आने की शक्ति को तोड़ा जा सके।

दरअसल, मैं पढ़ नहीं पा रहा हूँ—पढ़ने के लिए करीब-करीब एक जुगुप्सा-सी जाग गयी है—और जब मैं कुछ पंक्तियाँ पढ़ता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है कि जो कुछ मैंने पढ़ा उसका आधा भी मुश्किल से मेरी समझ में आया। इसी कारण जब मैं पढ़ता हूँ तो कामुक-कल्पनाएँ अधिकाधिक चक्कर काटती रहती हैं। शायद इसकी वजह यह हो कि मन का केवल एक ही हिस्सा पढ़ने में एकाग्र रहता हो, और वह भी बहुत बुरी तरह से एकाग्र, और यह असामञ्जस्य कामुक-दबाव को अन्दर धकेलने का कारण हो। चलते-फिरते तो कम-से-कम इच्छा-शक्ति की कुछ क्रिया तो होती ही है जो कामुक-दबाव को कुछ हद तक परे रखती है, बहरहाल,
^१: 'व' 'च' की बहन थी।

मैंने अपने-आपको उसके हवाले कर दिया है।

ओह। निस्सन्देह, इस तरह का पढ़ना किसी भी चीज़ को दूर नहीं रख सकता। व्यक्ति अपने मन के एक भाग द्वारा पढ़ता है, बड़ी अच्छी बात है, बशर्ते दूसरा भाग शान्ति में बना रहे, स्थिर पुरुष के भाव में जहाँ वह साक्षी-रूप में सब देखता रहे, लेकिन अगर दूसरा भाग निटल्ली अवस्था में रहे तो काम-वासना जैसी चीज़ें अन्दर घुस सकती हैं।

२६ जून १९३५

मैंने सोचा था कि हस्त-मैथुन के दबाव से मैं एकदम मुक्त हो गया, लेकिन वह उस दिन की अपेक्षा अधिक शक्ति के साथ और अधिक भौतिक धक्के के साथ आया। मैं 'च' के प्रति इतना आकर्षित हो जाता हूँ कि जब वह गुज़रती है तो मैं उसकी ठवन, उसकी साड़ी, उसकी भंगिमा इत्यादि को निहारता ही जाता हूँ, और मुझे लगता है कि बस मुझे उससे बातचीत करनी चाहिये। उस आवेश को अनुमति न देने पर वह दुगुनी ऊर्जा के साथ वापस आया। मुझे तो यह भी लगता है कि मेरा इस चीज़ से पूरा-पूरा संयम ही हट गया है, जो कि उस दिन मेरे अन्दर था, और मैं अपने अन्दर ऐसा कोई सहारा नहीं पा रहा कि स्वयं को संयम में रख सकूँ।

मेरे खयाल से, अपनी शक्ति में वह दबाव हमेशा दो चुनाव देता है—या तो हस्त-मैथुन या फिर सम्भोग, इसलिए तुम एक से दूसरी की ओर गेंद की तरह उछाले जाते हो। हस्त-मैथुन के दबाव से सदा के लिए पिण्ड छुड़ा लो, फिर दूसरे से पल्ला झाड़ना आसान हो जायेगा।

२७ जून १९३५

अपनी दुरवस्था के बारे में क्या लिखूँ! मानों एक दिन का रोना-धोना काफ़ी नहीं था! पेट एकदम से थक चुका है, मरोड़ें उठ रही हैं और आज प्रणाम के समय जब मैं आशा कर रहा था कि माँ मुझे कुछ ज़्यादा देर तक पकड़े रहेंगी, एकदम से उलटा ही हुआ। लेकिन इस सबके लिखने का क्या फ़ायदा? आपने लिखा कि श्रीमाँ नहीं बल्कि मैं खुद ही खुद को दुःखी-सन्तप्त बनाता हूँ। और भले ही मैं वह पाने की उम्मीद न रखूँ जो केवल कुछ चुने हुए लोगों को मिलती है, प्रणाम के समय माँ को मेरे द्वारा निर्देशित नहीं किया जा सकता कि मुझ पर या दूसरों पर वे कैसे हाथ रखें। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं यह आशा करूँ कि माँ मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा वे अम्बु या तारा या लीला के साथ करती हैं—मैं इसके लायक होने के लिए बहुत ही ज़्यादा अभाग्य हूँ। भले ही माँ मेरे सिर पर हाथ न भी रखें फिर भी कोई बात नहीं। मेरी ओर से थोड़ा और रोने-धोने से

आपको कुछ खुशी मिले! यह भी ठीक है कि यह रोना-धोना केवल मेरे लिए ही हो! हस्त-मैथुन का आवेग पूरे जोश के साथ उभरता है जब प्रणाम के समय माँ अपने हाथ का सहारा कम देती हैं। हमेशा से ऐसा ही होता आया है। अगर आप अपना सहारा न हटा लें या मैं अवसाद में न डूब जाऊँ अथवा शक्तिहीन न बन जाऊँ, आवेग सक्रिय नहीं होता।

माँ अपना हाथ हमेशा की तरह ही रखती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि जैसा कि उन्होंने देखा कि तुम्हें विशेष मदद की ज़रूरत है, उन्होंने उसे देने की कोशिश की। परन्तु जब तुम इस अवस्था में होते हो, यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि तुम दुःखद भावनाओं में इतने व्यस्त रहते हो, कि कुछ भी अनुभव नहीं कर सकते, किसी भी चीज़ को नहीं जो सहारा देती है, बस दुःख-क्लेश को बढ़ाते रहते हो। तुम्हें हमेशा सहारा मिलता है; निश्चित रूप से इसका एकदम से कोई कारण नहीं कि क्यों हम उससे पीछे हटें। आश्रम में जब कभी कोई गम्भीर मुसीबत में होता है, तब वह सब हमारे ऊपर पड़ता है और विशेषकर माँ के ऊपर—तो यह मान लेना मूर्खतापूर्ण है कि हम किसी के भी दुःख में आनन्द ले सकते हैं। दुःख-कष्ट, बीमारी, प्राणिक तूफ़ान (लालसा, विद्रोह, क्रोध) सभी, हम जिस चीज़ का प्रयास कर रहे हैं उसके इतने परस्पर-विरोधी हैं और इसलिए हमारे काम में आने वाली बाधाएँ हैं। उन्हें जल्द-से-जल्द ख़तम कर देना ही हमारी एकमात्र इच्छा है, न कि उन्हें क्रियाशील रखना।

काश! बस तुम इन तूफ़ानों के आने पर अपने अन्दर कहीं इनसे अनासक्त रह पाने की शक्ति पा लेते, इनके धक्के से या उठते हुए विचारों में बह न जाते! तब कोई ऐसी चीज़ होती जो इस सहारे को अनुभव कर सकती और इन शक्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया कर पाती।

२८ जून १९३५

श्रीअरविन्द